



शौरसेनी प्राकृत साहित्य के प्रमुख रचनाकार आचार्य कुन्दकुन्द के रचनाओं में जीव की अवधारणा

डॉ० सुनील कुमार सिंह

सहायक प्राध्यापक एवं अध्यक्ष, स्नातकोत्तर प्राकृत विभाग, हरप्रसाद दास जैन महाविद्यालय, आरा (बिहार),
वीर कुँवर सिंह विश्वविद्यालय, आरा (बिहार)

Article Info: (Recieved- 14/05/2026, Accept- 05/06/2026, Published- 10/07/2026)

DOI- 10.70650/rvimj.2026v3i7003

दिगम्बर परम्परा में भगवान् महावीर के पश्चात् अनेक विश्रुत विद्वान आचार्य हुए, परन्तु कुन्दकुन्द सबसे महान् आचार्य हुए। उन्होंने छिन्न-भिन्न श्रमण संस्कृति, आगम-साहित्य, चतुर्विध संघ का संचालन-संरक्षण एवं उसके नवनिर्माण का भागीरथ पुरुषार्थ किया। भगवान् महावीर के पश्चात् तीन केवली एवं पाँच श्रुतकेवली हुए। अन्तिम श्रुतकेवली भद्रबाहु के समय फैले भयंकर दुर्भिक्ष में बड़े-बड़े तपस्वी भी साधन से अलग हो गये। शिथिलाचार व्याप्त होने लगा, स्वेच्छाचार और स्वच्छंदता पनपने लगी। ऐसे समय इस शिथिलाचार आदि को बड़े शब्दों में आलोचना करके सच्चे जैनधर्म की पुनः स्थापना का कार्य आचार्य श्री ने किया। जैन वाङ्मय में अपनी रचनाओं द्वारा वृद्धि की। यही कारण है कि भगवान् महावीर और गौतम के पश्चात् कुन्दकुन्द को ही सर्वमान्य आचार्य मानकर उनकी बन्दना की गई हैं। उन्हें मंगलकारी माना गया है।

कुन्दकुन्द का काल साधना के क्षेत्र में शिथिलाचार का काल रहा, जिससे समज में भी शिथिलाचार बढ़ने लगा था। उन्होंने ऐसे शिथिलाचार-पोषक साहित्य पर प्रहार किया और साधु के श्रेष्ठ आचार-व्यवहार एवं सच्चे धर्म साहित्य पर प्रहार किए और साधु के श्रेष्ठ आचार व्यवहार एवं सच्चे धर्म को लोगों तक पहुँचाया। उन्होंने ज्ञान के साथ चरित्र-पालन पर जोर देते हुए उसे ही मोक्ष का मार्ग बताया। इस प्रकार मात्र ज्ञान के वाद-विवाद में उलझे पंडितों एवं मुनियों को यह मार्ग प्रशस्त कर दिया कि चरित्र धारण किए बिना मुक्ति सम्भव नहीं है। चरित्र-पालन के लिए त्याग-तपस्या का स्वीकार परमावश्यक है। इस चरित्र-पालन के ज्ञान के लिए सत्यसाहित्य, शास्त्रों का ज्ञान-अध्ययन आवश्यक है। वे आत्म-ज्ञान, आत्म-परख के विशेष समर्थक थे। आत्म-सम्बन्धी उनकी मौलिकता जैन वाङ्मय के लिए अद्भुत भेंट है।

आचार्य श्री ने समाज के शिथिलाचार पर विशेष टीका की। कारण कि समाज का सच्चा नेता साधु ही होता है। चरित्र-निर्माण के जीवन-मूल्यों का वह संस्थापक, संवर्धक एवं संरक्षक होता है। उन्होंने वस्त्रधारी परिग्रही साधुओं की निन्दा की। परिग्रह, आंतरिक व बाह्य दोनों, की निन्दा करते हुए कहा कि- अपेक्षा से वस्त्रधारी निष्परिग्रही (आंतरिक) हो सकता है और नग्न परिग्रही (आंतरिक) भी हो सकता है।

भौतिक से आध्यात्मिकता की ओर- कुन्दकुन्दाचार्य ने अपने साहित्य द्वारा इस भौतिक सुख और उसकी लिप्सा को त्यागने का मार्ग बताया। भौतिक सुख की भावना इन्द्रियों असंयतता के कारण ही पनपती है। यह इन्द्रिय असंयतता पंचेन्द्रिय को वाचाल बनाती है और मात्र बाह्य सुखों की मृगमरीचिका में दौड़-दौड़ कर, भटका-भटका कर दुखी बनाती है। यही भौतिक सुख की अहर्निश कामना, आर्त और रौद्र कुड्यान मन-आत्मा को कोसते रहते हैं। यही कषाय भाव मनुष्य को पाप की ओर उन्मुख करते हैं। परिणाम-स्वरूप वे पाप के बन्धन से निरन्तर दुःख सहन करके विविध गतियों के दुःखों को सहन करते रहते हैं। इस भौतिकवाद की ओर समाज को बहकाने या भ्रमित करने का कार्य कुछ तथाकथित धार्मिक विचारकों एवं अन्य साहित्य के माध्यम से हो रहा था। ऐसे कीचड़ के वातावरण में आध्यात्मिकता के कमल को अपनी ज्ञाप-ज्योति से आचार्य कुन्दकुन्द ने पुष्पित-पल्लवित किया है। वे समयसार में लिखते हैं-

सुदपरिचिदाणुभूया सव्वस्स वि काम-भोगबंध-कहा। एयत्तस्सुबलंभीणवरिण सुलहो विहत्तस्स।।

इतना कहकर वे आत्मा के रूप को अपने अनुभव की कसौटी पर प्रस्तुत करते हैं और कितनी सरलता से कहते हैं कि यदि उसे दिखा सकूँ तो स्वीकार करना यदि चूम जाऊँ तो इस विषय में छल न ग्रहण करना (समयसार)। यहाँ उनकी स्याद्वाद दृष्टि का भी परिचय मिलता है। वे अपनी बात मनवाने के लिए हठाग्रही नहीं हैं। वे लोगों पर ही सही निर्णय लेना छोड़ते हैं। आचार्य ने समयसार में आवश्यकता पड़ने पर ऐसे सिद्धान्तों का खण्डन भी किया है जो भौतिकता के समर्थक सिद्धान्त थे।¹ डॉ० लालबहादुर शास्त्री ने अपने प्रबन्ध में लिखा है— “वास्तव में कुन्दकुन्द के समय में धर्म के नाम पर जो स्वच्छदता आ गई तथा उस समय की राजसत्ता जब उसे रोकने में असमर्थ हो गई अथवा स्वयं यह राजधर्म ही बन गयी तब कुन्दकुन्द ने उसकी निर्वृत्ति का उपाय आध्यात्म को ही माना और उसी का प्रचार किया।²”

कुन्दकुन्द की रचनाएँ वास्तव में भौतिकवाद की आँधी में उड़ते लोगों का सहारा बनीं। भौतिकवादी सम्प्रदायों में जो प्रचलित लौकिक रूढ़ियाँ प्रवेश कर चुकी थीं उस पर अंकुश लगाया गया। आचार्य कुन्दकुन्द ने उस समय सर्वाधिक प्रचलित व प्रभावित करने वाले अनात्मवाद को प्रचारकों पर प्रहार किए क्योंकि समस्त शिथिलाचार का जन्म ही इस अनात्मवाद से हुआ। समयसार में वे लिखते हैं— “जो करता है वह नहीं भोगता, जिनका ऐसा सिद्धान्त है वे मिथ्यादृष्टि हैं और अनार्हत हैं। दूसरा कोई करता है और अन्य कोई भोक्ता है ऐसे जीव को आर्हतमत से बाहर मिथ्यादृष्टि समझना चाहिए।”³

इस आध्यात्मिकता की ओर उन्मुख करने के लिए उन्होंने ज्ञान और भक्ति दोनों मार्गों का प्रकाशन किया। भक्ति सम्बन्धी रचना भक्ति, सिद्धभक्ति, सदभक्ति, चरित्रभक्ति, योगीभक्ति, आयरियभक्ति, णिव्वाणभक्ति एवं पंचपरमेष्ठीभक्ति में पंचपरमेष्ठी के स्वरूप, गुण, अतिशय का वर्णन कर उनकी भक्ति की गई है। ज्ञान-चरित्र का वर्णन कर उनके प्रति श्रद्धा का महत्त्व प्रस्थापित किया गया है। लोग पंचपरमेष्ठी के आचार-व्यवहार-स्वरूप को समझेंगे तो निश्चित रूप से वे सत्य को समझेंगे। कुगुरु-कुमार्ग से बचेंगे। सच भी है— मनुष्य अपने आराध्य के प्रति भक्ति-भाव से ही जुड़ता है। भक्ति में दृढ़ मन ही ज्ञान के अमृत को ग्रहण करने की सक्षमता प्राप्त करता है। इन सभी भक्ति की रचनाओं में सांसारिक सुख की नहीं, अपितु उत्तम चरित्र, ज्ञान एवं मंगल की ही कामना की गई है। इनमें बहिर्जगत् से अन्तरजगत् में उतरने का ही बोध मिला है।

लोगों को सच्चा ज्ञान मिले, अतः वे ग्रन्थ जिन्हें पढ़ने का गृहस्थों को अधिकार नहीं था, जिससे लोगों में अज्ञान बढ़ रहा था व सच्चे शास्त्रों का ज्ञान लुप्त हो रहा था, उस समय कुन्दकुन्दाचार्य ने जनता को ऐसा साहित्य उपलब्ध कराया। उन्होंने पंचास्तिकाय, समयसार, प्रवचनसार जैसे ग्रन्थों की रचना करके दर्शन-ज्ञान-चरित्र की महिमा समझायी। अपने पाहुड (प्राभृत) ग्रन्थों में इसी आध्यात्मिक एवं चरित्र-निष्ठा के ही ज्ञान का प्रवाह प्रवाहित कर लोगों के भौतिक प्रवाह को आध्यात्मिकता की ओर मोड़ा। भटके लोगों को पुनः जीवन मूल्यों को समझने का वातावरण प्रदान किया।

मानवीय गुणों की चेतना— मानवीय गुणों की चेतना से तात्पर्य ब्रह्म व्यवहार एवं आत्मिक या आध्यात्मिक विकास से है। जनौचार्यों ने प्रायः अत्मोर्ष को ही अपना साध्य माना। दूसरे शब्दों में मोक्ष की प्राप्ति, जन्म-मरण के बन्धन से छुटकारा उनका लक्ष्य रहा। उन्होंने इस मुक्ति के लिए बाह्य सदाचरण, संयमित जीवन आदि भी उतने ही आवश्यक माने। पर दुर्भाग्य तो यह है कि आचार्य कुन्दकुन्द के इस व्यावहारिक या बाह्य आचरण की महत्ता समझे बिना लोग आत्मा-आत्मा की तोता रटन्त कर उसे झुठलाने का प्रयास करते रहे। बनारसीदास को आलबन मानने वालों ने उनके ही कथन पर ध्यान दिया होता तो शायद यह एकान्तवाद न पनपता। वे कहते हैं—

**करनी कौ रस मिटे गयौ मिलौ न आतमस्वाद।
भई बनारसि की दशा जथा ऊँट को पाद।**

शीलगुण का विकास— विषय वासनाएँ मनुष्य को सर्व प्रकार की हिंसा की ओर प्रेरित करती हैं। विषय-वासना से पीड़ित व्यक्ति जन्म-जन्मांतर के दुःख उठाता है। नरकों में वेदना पाता है। वह भूसे को कूटकर अनाज की प्राप्ति चाहता है। इससे वह कुत्सित आचरण करता है— कर्मग्रन्थि दृढ़ होती जाती है। परन्तु तप, संयम शील से गुणी पुरुष उस ग्रन्थि को छोड़ देते हैं (शील पाहुड)। उस समय में प्रचलित वासनाओं के प्रतिकार के लिए आचार्य ने आध्यात्मिक ग्रन्थ शीलपाहुड की रचना की। काम-वासनायें मनुष्य में सिरसा के मुँह की तरह बढ़ती ही जाती हैं। मनुष्य वासनाओं में, निरन्तर कुध्यान की खाई में गिरता जाता है। नरक के दुःखों को भोगता है। अतः संयमित जीवन की आवश्यकता पर उन्होंने जोर दिया। इस संयम में भी आत्मा को साधा जा सकता है।

शील के बिना विषय ज्ञान को नष्ट कर देते हैं। शीलपाहुड में आचार्य प्रस्तुत करते हैं कि चरित्रहीन ज्ञान, दर्शनहीन वेष्ट-धारणा तथा संयमहीन तप ये तीनों निरर्थक हैं। वासना 'मद' को जन्म देती है। रूप, धन, यौवन से सम्पन्न व्यक्ति यदि शील गुण रहित है तो उसका जन्म निरर्थक है। दया, सत्य, अचौर्य, ब्रह्मचर्य, संतोष, सम्यग्दर्शन, ज्ञान, तप से सब शील के परिवार हैं। "जो व्यक्ति जिनधर्म में श्रद्धा रखते हैं, ऐसे जिनवाणी से सार ग्रहण करने वाले विषय-विरक्त, तपोधन, धीर, शीलरूपी जल से स्नान करके निर्वाण-सुख को प्राप्त करते हैं।"⁴

इसी व्यावहारिक 'शील' का आत्म-सम्बन्धी विकास प्रवचनसार में है। 'चारिणं खलु धम्मो, में सम्पूर्ण चरित्र का समावेश हो गया है। गृहस्थ क्रमशः ममत्त्व-राग त्याग कर दिगम्बरत्व के उत्कृष्ट शील को धारण कर उच्चतम धरातल पर प्रतिष्ठित होता जाता है।

साम्यमूलक भावनाएँ- जैन धर्म सच्चे अर्थों में 'साम्य' अर्थात् समानता और विशिष्ट अर्थ में समता का धर्म है। जीव मात्र को समान मानने वाले एक मात्र इस धर्म में समता को सर्वाधिक महत्त्व दिया गया है। कर्म इसका मेरु है। प्रत्येक जीव को अपने कर्मानुसार फल भोगने ही पड़ते हैं। उसमें कोई भेदभाव या रियायत नहीं। यही कर्म इस सभ्यता के मूल में है। यही संस्कृति का प्रतीक भी है। सद्कर्म ही संस्कार हैं। असद् कर्म असंस्कार हैं। इस प्रकार मनुष्य में प्राणी मात्र के प्रति करुणा, दया, क्षमा के भाव बढ़ें। ये भाव ऋतुजा द्वारा ही बढ़ते हैं। इस ऋतुजा के विकास के लिए आत्मा से आबद्ध कषाय भावों को छोड़ना आवश्यक है। क्रोध-मान-माया-लोभ व्यक्ति में अहम् बढ़ाते हैं, भेदभाव बढ़ाते हैं, जिससे कषाय-युक्त व्यक्ति अन्य जीवों के प्रति समभावी नहीं रह पाता।

इस साम्यमूलक दृष्टि को विकास हेतु स्याद्वाद एवं नय दृष्टि का विकसित होना आवश्यक है। मिथ्यात्व से रहित होने के लिए उसे सद् दृष्टि का विकास करना चाहिए। पूर्वाग्रह एवं मिथ्यात्व रहित व्यक्ति ही मैत्री से युक्त व समभावी हो सकता है। इसकी प्राप्ति तभी होगी जब व्यक्ति क्षुद्र विचार, रौद्र-दुष्ट भाव, ईर्ष्या आदि का त्याग करे। व्यक्ति का यही सौम्यभाव समाज, राष्ट्र और विश्व तक विस्तृत हो सकता है। व्यक्ति का साम्य और सौम्यभाव प्राणी मात्र तक विस्तृत हो सकता है, जब उसमें हिंसादिक भाव नहीं रहे और हिंसादिक भावों के जनक कषायों का तिरोहण हो सके। मूलतः देखें तो 'त्रिरत्न' की प्राप्ति तभी हो पाती है जब- "व्यक्ति-प्रशंसा, उपगूहन, रक्षा, आर्जव आदि उल्लेखनीय सद्कर्मों से सम्पन्न हो।"⁵

सद्भावों, विचारों, क्रियाओं का विकास- जैन धर्म, जैसा कि सामान्यतः स्वयं सिद्ध है कि सम्पूर्ण रूप से 'कथन-क्रिया' की समानता का धर्म है। मनुष्य में सही अर्थों में मानवता का विकास हो एवं यही विकास व्यक्ति को अमरत्व तक ऊपर उठाये यह इसकी चरम परिणति है। बाह्य दृष्टि या व्यवहार दृष्टि से विचार की निर्मलता सद्वृत्तियों के विकास के लिए आचार्य ने दैनिक जीवन में कुछ कार्यों, कर्तव्यों को आवश्यक माना है। श्रमण संस्कृति का अनुयायी श्रावक इन्हीं के द्वारा अपनी विशिष्ट पहचान बनाये रखता है।

सर्वप्रथम उसे वीतरागी देवों के दर्शन, निर्ग्रन्थ गुरुओं की सेवा, ज्ञानार्थ स्वध्याय, साधन के लिए संयम, तप एवं अपरिग्रह के हेतु दान जैसी षड् आवश्यक क्रियाओं को दैनिक जीवन का अंग बनाना चाहिए। यह प्राथमिक एवं आवश्यक जीवन मूल्य जीवन में सुख शांति देने वाले हैं और आत्मा की प्रगति प्रदान करने वाले हैं। कुन्दकुन्दाचार्य ने चरित्र पर अधिक जोर दिया है। इसमें भी मुनियों की सम्पूर्ण निर्दोष चर्चा को अधिक महत्त्व दिया है। क्योंकि ये श्रमण ही श्रावक के मार्ग-प्रशस्ता होते हैं। मात्र लिंग (मुनि रूप) धारण करने का महत्त्व नहीं है। महत्त्व है, चरित्र पालन का। वे कहते हैं- "पापवृत्तियों में संलग्न प्राणी यदि साधु का वेश भी धारण कर लेता है तो वह अन्ततः दुर्गति को प्राप्त होता है।"⁶ शुभ-अशुभ दोनों भावों को संसार-भ्रमण का कारण मानने वाले आचार्य कुन्दकुन्द प्रारम्भ में तो शुभ भावों में ही स्थित होने का उपदेश देते हैं। अशुभ भाव तो सम्पूर्ण विनाश का कारण है। इन शुभ भावों की आवश्यकता है ताकि अशुभ भावों का बहिर्गमन हो जाए। फिर तपस्या द्वारा इनकी भी निर्जरा कर निराकार मोक्ष की प्राप्ति ही साध्य बनाना चाहिए। रयणसार में इन शुभ भावों का समर्थन द्रष्टव्य है।

श्रमण संस्कृति में श्रावक व मुनि दोनों को व्रताराधना आवश्यक मानी गई है। श्रावक देशव्रती या अणुव्रती होता है। मुनि महाव्रती होता है। पाँच पापों का गृहस्थ आजीविका हेतु आंशिक त्याग करता है। पर उसे ध्यान रखना चाहिए कि जीवन-यापन की आवश्यकताओं से अधिक संग्रह लोभ की भावना से हिंसा, झूठ, चोरी, कुशील एवं परिग्रह को वह प्रश्रय न दे। क्रमशः उन्हें घटाये। मुनि तो महाव्रती है। उसे तो यत्किंचित् भी कहीं ऐसा कार्य/व्यवहार नहीं करना चाहिए जिससे वह क्रिया-भ्रष्ट हो। आचार्य कुन्दकुन्द के पाहुड ग्रन्थों में विशेषकर मोक्षपाहुड, चारित्रपाहुड में मुनि की क्रियाओं की सूक्ष्मातिसूक्ष्म आचरण सम्बन्धी चर्चा है।

धर्म में सच्ची श्रद्धा ही मनुष्य को पाप-रहित, दृढ़ एवं मानवीय गुणों से सम्पन्न बनाती है। बोधपाहुड में कितने सरल शब्दों में कहा गया है- जो दया, अनुकम्पा से पवित्र है वह धर्म है, जिससे समस्त परिग्रहों, आसक्तियों

का त्याग किया जाता है व प्रव्रज्या और जो मोहरहित तथा सन्मार्ग में लगे हुए जीवों के अभ्यूदय को प्रदान करने वाला है वह देव है।⁷ तात्पर्य यह कि जैसा गुरु और देव होगा, संस्कार वैसा ही पनपेगा। आचार्य कुन्दकुन्द जैन साधु व अराध्य के गौरव को प्रस्तुत कर यही इंगित करते हैं कि ऐसे गुरु, देव का आराधक श्रावक सदैव निर्मल चरित्र वाला होगा।

आचार्य ने क्रिया काण्ड में भी परलोक अर्थात् मोक्ष के हेतु आत्मोन्नय का साधन माना है, उसे सांसारिक भौतिक सुखों के हेतु हेय माना है। तीर्थ-वन्दना, गुरुवन्दना आदि क्रियाएँ मृदुता व ऋतुजा के लिए ही हैं। सम्यक्त्व के साथ ही इनका आचरण होना चाहिए।

इन क्रियाओं में— अहिंसापूर्ण धम्म को अपना कर आरम्भ और मूढता नहीं करनी चाहिए। जीव उक्त तीनों भावों की यदि मोह रहित होकर अराधना करे तो वह शीघ्र कर्मों को नष्ट करता है। इस सम्यक्त्व-चरण चरित्र से बहुत से दुःख का क्षय हो जाता है। आचार्य ने श्रावक एवं मुनि की क्रियाओं में परिषह आदि प्रसन्नता से सहन करने का उपदेश दिया है। 'बोधपाहुड' में आयतन, चैत्यगृह, जिनप्रतिमा दर्शन, जिनबिंब, जिनमुद्रा, ज्ञान, देवी, तीर्थ, अर्हत प्रव्रज्या आदि अधिकारों का वर्णन किया गया है। वास्तव में इन सबका उद्देश्य तो साधक को इनका अपनी साधना में प्रयोग करना ही है। बारह प्रकार की तपाराधना, तेरह क्रियाओं के पालन में मनरूपी हाथी को वश में करना चाहिए। पूजा, व्रत आदि पुण्य उपार्जन हेतु आवश्यक हैं। लिंगपाहुड में अनाचार करने वाले नरकगामी होते हैं— इसका वर्णन करके परोक्ष रूप से यही कहा है कि जो लिंग धारण करके भी अपकृत्य करता है वह नरक के दुःखों को भोगता है। नियमसार में व्यवहार एवं निश्चयदृष्टि से प्रतिक्रमण, प्रत्याख्यान, आलोचना, प्रायश्चित्त, ध्यान एवं भक्ति आदि का निरूपण कर आत्मा में अधिक दृढ़ होने का मार्ग प्रस्तुत किया है। रयणसार में भी दान, पूजा, शील, उपवन आदि कार्यों को श्रावक के लिए श्रेयस्कर बताया है। वास्तव में शास्त्र या धार्मिक साहित्य सच्चे अर्थों में हमारे हर युग के जीवन का मार्गदर्शक रहता है। मानवजीवन का आज जो विकसित या सुसंस्कृत स्वरूप में देख रहे हैं उसमें विकास-यात्रा में धर्म-ग्रन्थों के संस्कारों का ही चिंतन प्रमुख है। जब तक लोग इस धर्म के पथ पर आरुढ़ रहे, वे सुखी रहे और भौतिक सुख को स्वेच्छा से त्यागकर परमपद की प्राप्ति के लिए तपस्या में दृढ़ हो गये। सत्साहित्य की आवश्यकता जितनी कुन्दकुन्दाचार्य के युग में थी उससे अधिक उसकी उपयोगिता आज है।

Author's Declaration:

I/We, the author(s)/co-author(s), declare that the entire content, views, analysis, and conclusions of this article are solely my/our own. I/We take full responsibility, individually and collectively, for any errors, omissions, ethical misconduct, copyright violations, plagiarism, defamation, misrepresentation, or any legal consequences arising now or in the future. The publisher, editors, and reviewers shall not be held responsible or liable in any way for any legal, ethical, financial, or reputational claims related to this article. All responsibility rests solely with the author(s)/co-author(s), jointly and severally. I/We further affirm that there is no conflict of interest financial, personal, academic, or professional regarding the subject, findings, or publication of this article.

संदर्भ ग्रन्थ—

1. समयसार, गाथा 440-441, आचार्य कुन्दकुन्द, श्री दिगम्बर जैन स्वाध्याय मंदिर ट्रस्ट, सोनगढ़।
2. समयसार, गाथा 348, आचार्य कुन्दकुन्द, श्री दिगम्बर जैन स्वाध्याय मंदिर ट्रस्ट, सोनगढ़।
3. कुन्दकुन्द और उनका समयसार, पृष्ठ 65, परमश्रुत प्रभावक मण्डल, बम्बई
4. सीलपाहुड गाथा 38, आचार्य कुन्दकुन्द, पंडित टोडरमल स्मारक ट्रस्ट, जयपुर।
5. अष्टाहुड (मोक्खपाहुड), गाथा 7, पंडित टोडरमल स्मारक ट्रस्ट, जयपुर।
6. अष्टाहुड (मोक्खपाहुड), गाथा 78, पंडित टोडरमल स्मारक ट्रस्ट, जयपुर।
7. अष्टाहुड (बोधपाहुड), गाथा 24, पंडित टोडरमल स्मारक ट्रस्ट, जयपुर।

Cite this Article-

'डॉ० सुनील कुमार सिंह', "शौरसेनी प्राकृत साहित्य के प्रमुख रचनाकार आचार्य कुन्दकुन्द के रचनाओं में जीव की अवधारणा", Research Vidyapith International Multidisciplinary Journal, ISSN: 3048-7331 (Online), Volume:3, Issue:7, July 2026.

"Copyright © 2026 The Author(s). This work is licensed under Creative Commons Attribution 4.0 (CC-BY), allowing others to use, share, modify, and distribute it with proper credit to the author."